२० कर्म और कर्मफल

□ श्री राजेन्द्र मुनि

कर्म-फल का भोग-अटल :

कर्म और उसके फल का सम्बन्ध कारण और कार्यवत् है। कारण की उपस्थिति कार्य को अवश्य ही अस्तित्व में लाती है। जहाँ अग्नि है वहाँ धूम्र की उपस्थिति भी सर्वनिश्चित है। बिना अग्नि के धूम्र नहीं हो सकता है, उसी प्रकार सुख अथवा दुःख का भोग जब आत्मा द्वारा किया जा रहा है तो निश्चय ही उसकी पृष्ठभूमि में कारणस्वरूप पूर्वकृत कर्म है। आत्मा को कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। इससे उसका निस्तार किसी भी स्थिति में संभव नहीं है। यह भी तथ्य है कि सत्कर्मों के फल भी शुभ होते हैं और असत् कर्मों के फल अशुभ। सहज प्रवृत्तिवश हम सुखोपभोग के लिये तो लालायित रहते हैं। पर दुःखों को भोगने के लिये कौन तत्पर रहता है? किन्तु हमारी इच्छा-अनिच्छा से कर्मफल टलता या बढ़ता-घटता नहीं है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में जैन-दर्शन सर्वथा स्पष्ट और दृढ़ है कि आत्मा को पूर्वकर्मानुसार फल का भोग अनिवार्यतः करना पड़ता है। कारण उत्पन्न करना मनुष्य के वश की बात है, किन्तु इसके पश्चात् तज्जनित कार्य पर उसका वश नहीं हो सकता। अग्नि को स्पर्श करने पर हाथ का जलना सर्वथा निश्चित एवं अटल होता है। उसी प्रकार कर्ता को कर्म का फल भोगना पड़ता है। शुभ कर्मों के सुखद फलों को भोगने के लिये सभी तत्पर रहें, यह स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार दुःखद फलों से बचना भी चाहेंगे, किन्तु यह संभव नहीं है। साथ ही फल सदा कर्मानुरूप ही हुआ करते हैं। अशुभ कर्म के शुभ फल प्राप्त करना तनिक भी संभव नहीं है। जैसे बीज होंगे तदनुसार ही फल होंगे। 'बोए पेड़ बबूल के' फिर कोई व्यक्ति 'आम' का रसास्वादन नहीं ले सकता। जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त को विशेष प्रतिष्ठा है। इससे व्यक्ति को वर्तमान आचरण भी शुद्ध और शुभ रखने की प्रेरणा मिलती है। भगवान् महावीर के इस कथन "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" से यह सिद्ध होता है कि किये गये कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नहीं होता। परिणामतः सभी श्रेष्ठ फल-प्राप्ति के अभिलाषीजन कर्म की श्रेष्ठता पर भी पूरा ध्यान देते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या ईश्वर कर्म-फल प्रदान करता है ?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय जन एवं कतिपय दर्शनों की यह सामान्य मान्यता है कि ईश्वर ही फल का दाता है। जैनदर्शन की मान्यता इससे ठीक विपरीत है। जैन दर्शन ईश्वर जैसी किसी सत्ता को सुख-दुःख का कर्त्ता नहीं स्वीकारता। इसमें तो आत्मा की ही सर्वोच्चता है। आत्मा ही स्वयं के लिये भविष्य तैयार करती है, वह स्वयं नियन्ता है। ईश्वर में विश्वास करने वाले मानते हैं कि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है; पर फल तो उसे वैसा ही मिलेगा जैसा ईश्वर चाहेगा। यही कारण है कि ईश्वर की कृपा के लिये ही अधिक प्रयत्न किये जाते हैं। इनके अनुसार तो अशुभ कर्मों के फल भी शुभ हो जाते हैं। जीवन भर पापाचार में लिप्त रहने वाला अजामिल भी ईश्वर कृपा से अन्ततः मोक्ष को प्राप्त हो गया। जैन धर्म इस विचार को भ्रामक और असत्य मानता है। इसका यह सिद्धान्त अटल है कि जैसे कर्म होंगे, उनके फल भी निश्चित रूप से वैसे ही होंगे। साथ ही अशुभ कर्मों के फल को भी कोई शक्ति टाल नहीं सकती। सत्य तो यह है कि कर्म स्वयं ही अपना फल देते हैं। अतः जैसा फल इच्छित हो, तदनुरूप ही कर्म किया जाना चाहिये।

"ईश्वर ही फल प्रदान करता है" इस धारणा के पीछे कदाचित यह आधार रहा है कि प्रायः देखने में आता है कि अमुकजनों को उनके कर्मानुसार फल नहीं मिलता। और तुरन्त यह धारणा बना ली जाती है कि कर्मों के फल तो जैसे ईश्वर चाहता है वैसे देता है, किन्तु यह तात्कालिक विचार ही कहा जायेगा। अन्तिम सत्य का इसमें अभाव है। कर्मफल या कर्मानुरूप फल के अभाव से ईश्वर को मध्यस्थ या अभिकरण मानना उचित नहीं है। यहाँ यह स्पष्टतः समझ लेना उपयोगी रहेगा कि कर्म की फल प्राप्ति में विलम्ब हो सकता है। संभव है कि कुछ कर्म इसी जन्म में अपने फल देते हैं और कुछ कर्म आगामी जन्म में, यहाँ तक कि कभी-कभी तो फल-प्राप्ति अनेक जन्मों के पश्चात् होती है। उदाहरणार्थ, गजसुकुमाल मुनि को ९९ लाख जन्मों के अनन्तर कर्मों का उग्रफल भोगना पड़ा था। गौतम बुद्ध के पैर में काँटा लग गया था। इस पर उन्होंने कहा कि ८१ जन्म पूर्व मैंने एक व्यक्ति पर भाले का प्रहार किया था। उस अशुभकर्म का फल ही आज मुझे इस रूप में प्राप्त हुआ है। अस्तु, मात्र इस कारण कि कर्मानुसार फल की प्राप्ति तत्काल होते न देखकर यह मानना असंगत है कि फल कर्म के अनुसार नहीं होते, अथवा ईश्वर फल का दाता है। और वह अशुभ कर्मों के भी शुभ फल और शुभ कर्मों के भी अशुभ फल दे सकता है। अशुभ कर्मों का यदि हम शुभ फल भोगते हुए देखते हैं तो इसमें परिस्थिति यह रहती है कि इस समय जो फल भोगा जा रहा है, वह इस समय के कर्मों का फल नहीं है। पूर्वकृत शुभ कर्मों के फल उसे इस समय मिल रहे हैं। चाहे इस समय उसके अशुभ कर्म ही क्यों न हों? और

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यह भी सर्वनिश्चित है कि इन अशुभ कर्मों के फलों से भी वह मुक्त नहीं रह सकेगा। इसका भोग उसे करना ही होगा और वह अशुभ ही होगा।

कर्म और उसके फल के मध्य ईश्वर की सक्रियता को स्वीकार करना उपयुक्त नहीं। ईश्वरवादीजन तो ईश्वर को सर्वशक्तिमान नियंता मानते हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वर इस जगत से अशुभ कर्मों को समाप्त ही क्यों नहीं कर देता? ऐसा क्यों है कि पहले तो वह आत्माओं को दुष्कर्मों में प्रवृत्त करता है और फिर उन अशुभ कर्मों के फलों को शुभ बनाने का काम भी करता है। एक प्रश्न यह भी महत्त्वपूर्ण है कि यदि ईश्वर ही फलदाता है तो कर्मों के फल वह तत्काल ही क्यों नहीं दे देता ताकि दुष्कर्मों के दुष्परिणाम देखकर अन्य जन सन्मार्गी हो सकें।

एक स्थिति और विचारणीय हैं। जो पर पीड़क हैं, हिंसक हैं उन्हें अधर्मी समझा जाता है और उनके कर्म निन्दनीय तथा अनैतिक स्वीकार किये जाते हैं। वे अन्य प्राणियों को कष्ट देते हैं। यहाँ यह विचारणीय प्रसंग है कि जिन प्राणियों को कष्ट मिल रहा है, क्या वह ईश्वर की इच्छानुसार ही मिल रहा है? या उन प्राणियों को अपने कर्मों का फल मिल रहा है? ये हिंसक जन तो ईश्वर की इच्छा को ही पूरा कर रहे हैं फिर इन्हें निन्दनीय क्यों समझा जाय और इनके इन हिंसापूर्ण कार्यों का अशुभ फल इन्हें क्यों मिले?

इसी प्रकार दान को पुण्य कर्म कहा जाता है। भूखों को अन्नदान करना श्रेष्ठ कर्म है। भूखों को भूख का कष्ट भी तो ईश्वर ने ही दिया होगा फिर ईश्वर की व्यवस्था में किसो व्यक्ति द्वारा हस्तक्षेप करना शुभ कर्म कैसे कहा जा सकता है? ईश्वर चाहता है कि अमुकजन भूख के कष्ट से पीड़ित रहे और हम उसे कष्ट से मुक्त कर दें तो ईश्वर की अप्रसन्नता ही होगी। ऐसी स्थिति में यह कर्म शुभ कैसे हो सकेगा? ये सब भ्रामक स्थितियाँ हैं।

वस्तुतः जैनदर्शन का यह मत असंदिग्ध रूप से यथार्थ है कि न तो कोई कर्ता कर्म के फलों से बच सकता है और न ही किसी स्थिति में फल कर्मानुसार होने से बच सकता है। कोई शक्ति कर्मानुसार फलों को परिवर्तित नहीं कर सकती। ईश्वर भी नहीं।

जैन दर्शन और भाग्यवाद :

कर्म की प्रधानता से ऐसा आभास होने लगता है कि जैन दर्शन में भाग्य-वाद का प्राबल्य है। व्यक्ति का यह जीवन समग्र रूप से पूर्व निर्धारित एवं अपरिवर्तनीय हो—यह भाग्यवाद का प्रभाव है। यदि कर्मफल को ही भोगते हुए

Jain Educationa International   For Personal and Private Use Only   www.jainelibrary.org

उसे अपने जीवन को व्यतीत करना है तब तो जो कुछ पूर्व कर्मों द्वारा निर्धारित हो चुका है, जीवन का स्वरूप वैसा ही रहेगा। फिर जैनदर्शन के भाग्यवादी होने में क्या आशंका हो सकती है ? इस प्रकार के प्रश्नों का उठना सहज ही है। यह निश्चित है कि कर्म का फल मनुष्य को भोगना ही पड़ता है और ये फल पूर्व निर्धारित होते हैं किन्तु साथ ही जैन दर्शन जीवन के स्वरूप-गठन में कर्म के साथ-साथ पुरुषार्थ की भूमिका को भी समान ही महत्त्व देता है। प्रारब्ध का होना तो इस दर्शन में माना ही जाता है किंतु यह भी माना जाता है कि व्यक्ति अपने इसी जीवन के कर्मों द्वारा इसी जीवन के लिये सुख-दुःखादि का विधान भी कर सकता है। ये कर्म अविलम्ब फल देने वाले होते हैं और यही पुरुषार्थ है।

जैन दर्शन को एकांगी रूप से भाग्यवादी नहीं कहा जा सकता। पिछले कर्मों के फल विधान स्वरूप जो व्यवस्था निर्धारित हो जाती है वैसा ही मनुष्य का यह जीवन होता है और यह व्यवस्था अज्ञात भाग्य के नाम से जानी जाती है। जीवन धारण करते समय आत्मा का जो कर्म समुदाय होता है वह अपने फलानुसार एक रूप रंग, भावी जीवन के लिये तैयार कर देता है। यदि व्यक्ति भाग्यवादी ही रहा तो वह पूर्वकृत कर्मों के फल ही भोगता रह जाता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति पुरुषार्थ-प्रयोग द्वारा अपने जीवन को इच्छित रंग, रूप देने लगता है तो उसके ये नये कर्म जीवन को पूर्व विधान की अपेक्षा कुछ और ही कर देते हैं। ये कर्म तुरंत और इसी जीवन में फल देने वाले होते हैं। यही कारण है कि जीवन का पूर्व निर्धारित रूप पिछड़ जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा भी पूर्व कर्मों के फलों को स्थगित नहीं कर पाता। वे फल तो उसे भोगने ही पड़ेंगे। जब पुरुषार्थ दुर्बल हो जायगा यह कर्मफल उदित होने लगता है। ये कर्मफल बीच-बीच में पुरुषार्थ के फलों को भी अनुकूल-प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते रहते हैं।

कर्मचक्र और उसका स्थगन :

कर्म के संबंध में जीवन को किसी उपन्यास के कथानक के समतुल्य कहा जा सकता है। कथानक की एक घटना अपने पहले वाली घटना के परिणाम स्वरूप ही घटित होती है और यह परिणाम स्वरूप घटित घटना भी आगामी घटना के लिए आधार बनती है। कर्मचक्र भी इसी प्रकार गतिशील रहता है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष का परिणाम पुनः बीज रूप में प्रकट हो जाता है। कर्म के परिणाम स्वरूप फल उदित होते हैं। इन कर्मों को भोगते-भोगते आत्मा द्वारा कुछ कर्म और अर्जित हो जाते हैं जो कालान्तर में अथवा आगामी जन्म में अपने फल देते हैं।

स्पष्ट है कि इससे तो आत्मा कर्माधीन लगती है। आत्मा स्वतंत्र नहीं है कर्म करने के लिए। अब यहाँ यह प्रश्न भी विचारणीय हो जाता है कि कर्म

Jain Educationa International   For Personal and Private Use Only   www.jainelibrary.org

और आत्मा में कौन अपेक्षाकृत अधिक बलवान है ? हम सामान्यतः पाते हैं कि आत्मा कर्मों के फल भोगने में लगी रहती है और एक के बाद एक जन्म ग्रहण करती रहती है। ये कर्म ही हैं जो आत्मा को काम, क्रोध, मोहादि मलों में लिप्त कर देते हैं। कर्म ही किसी आत्मा को उज्ज्वल हो सकने का अवसर देते हैं। इन परिस्थितियों में कर्म की सबलता दिखायी देती है। कर्म ही आत्मा पर हावी रहते हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

पर यथार्थ में कर्म की शक्ति कुछ नहीं है। आत्मा ही बलवान है। आवश्यकता इस बात की है कि आत्मा को तेजोमय और ओजपूर्ण किया जाय फिर तो आत्मा कर्म पर नियंत्रण करने की पात्रता अर्जित कर लेगी। आत्मा द्वारा बाह्य कर्मों के प्रवेश को निषिद्ध किया जा सकता है। यह आत्मा ही है जो अपने बंधन कर्मचक्र को स्थगित कर सकती है, काट सकती है। आत्मा की कर्मों पर विजय ही तो मोक्ष प्राप्ति है। कर्म क्षय की योग्यता जब आत्मा में है तो कर्म निश्चित ही आत्मा की अपेक्षा निर्बल हैं।

हाँ, कर्म का परिणाम फल और फल का परिणाम कर्मरूप में उदित अवश्य होता है और इस प्रकार कर्मचक्र अजस्र गति से चलता रहता है किंतु उपयुक्त पात्रता पाकर आत्मा इस गति को समाप्त कर देती है। संयम और तप से आत्मा को यह शक्ति प्राप्त होती है। कर्मचक्र की अटूट गति से यह नहीं समझना चाहिये कि प्रत्येक आत्मा के लिए उसका यह क्रम शाश्वत ही रहेगा। वस्तुतः आत्मा कर्मचक्र में ग्रस्त कैसे होती है, इस प्रसंग को समझना इस सारे प्रसंग को सुगम बना सकता है। राग, द्वेष, माया, लोभ, क्रोधादि आवेगों के कारण आत्मा कर्म के बंधनों में बद्ध हो जाती है। व्यक्ति चाहे तो अपनी आत्मा को इस बंधन से मुक्त रख सकता है। उसे इन विकारों से ही बचना होगा। यह भी सत्य है कि एक बार आबद्ध हो जाने पर भी वह स्वयं अपने प्रयास से मुक्त हो सकता है। ऐसे संकल्पधारियों के लिए भगवान् महावीर का यह संदेश परम सहायक सिद्ध हो सकता है कि "आत्मा का हित चाहने वाला पापकर्म बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार विकारों को छोड़ दे।"

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वे मूल कारण हैं जिनके परिणामस्वरूप कर्म अस्तित्व में आते हैं। जब ये ही नष्ट कर दिये जाते हैं तो इनकी नींव पर अवस्थित कर्म-अट्टालिका स्वतः ही ध्वस्त हो जाती है। क्रोध को नष्ट करने के लिये क्षमा, मान को नष्ट करने के लिए कोमलता का व्यवहार प्रभावकारी रहता है। इसी प्रकार माया पर सादगी से और लोभ पर संतोष से विजय प्राप्त की जा सकती है।

वस्तुतः भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म उदित होते रहते हैं। यही शृंखला अजस्रता के साथ चलती रहती है और परिणामतः यह चक्र

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अबाधित असामान्य गति वाला दिखायी देने लग जाता है। द्रव्य कर्म भोगते समय यदि भावकर्म उत्पन्न ही न होने दिये जाँय तभी यह सिलसिला रुक सकता है। पूर्वकृत कर्मों के फल भोगते समय जो कर्म हो जाते हैं वे पुनः आगामी फलों का पूर्वनिर्धारण कर देते हैं। यदि फल भोग के समय हम समभाव रखें, उनके प्रति आत्मा में राग-द्वेष न आने दें तो नवीन कर्म बंधन अस्तित्व में नहीं आयेंगे। अजस्र गतिशील प्रतीत होने वाला यह कर्मचक्र रुक जायेगा। इस प्रकार सर्वथा कर्मक्षय कर आत्मा अनंतसुख मोक्ष की स्थिति प्राप्त कर सकती है। यह लक्ष्य मनुष्य साधना से स्वयं ही प्राप्त करता है। कोई अन्य शक्ति उसे यह सद्गति नहीं प्रदान कर सकती। आत्मा का अजेय वर्चस्व कर्म सिद्धान्त द्वारा स्थापित होता है। व्यक्ति स्वयं ही अपना भाग्य निर्माता है। कर्म उसके अस्त्र हैं। कर्मों के सहारे वह स्वयं को जैसा बनाना चाहे बना सकता है।

•●•

सवैया

एक जो नार शृंगार करे नित, एक भरे है परघर पाणी।
एक तो ओढ़त पीत पीताम्बर, एक जो ओढ़त फाटी पुरानी॥
एक कहावत बांदी बड़ारण, एक कहावत है पटराणी।
कर्म के फल सब देख लिये, अब ही नहीं चेते रे मूरख प्राणी॥

कवित्त

रुजगार बणे नांय, धन्न नहीं घरमांय,
खाने को फिकर बहु, नार मांगे गहणो।
लेणायत फिर-२ जाय, उधारो मिलत नांय,
आसामी मिल्या है चोर, देवे नहीं लेवणो॥
कुपुत्र जुवारी भया, घर खर्च बढ़ गया,
सपूत पुत्र मर गया, ज्यां को दुख सहणो।
पुत्री ब्याव योग भई, परणाई सो विधवा थई,
तो भी ना आयो वैराग, वीने कांई केवणो॥

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org